दैनिक जागरण
राष्ट्रीय संस्करण
नई दिल्ली, मंगलवार, 14 जून 2016
www.jagran.com

आजकल

न्याय में देरी की मूल वजह

जजों के रिक्त पदों को भरना तो नितांत आवश्यक है ही साथ में अदालतों की संख्या और उनके काम करने के समय-सारणी को भी और दुरुस्त करने की जरुरत है। तय बजट का सही उपयोग अगर किया जाय तो सायंकालीन अदालतों, प्रातः कालीन सुनवाई आदि की व्यवस्था विशेष अदालतों के तहत की जा सकती है। साथ ही मामलों को फिल्टर करने के उपायों पर भी और विचार करने की जरुरत है ताकि न्यायालय का बोझ कम हो सके

■ शिवानंद द्विवेदी

शासन के तीन अंगों में न्यायपालिका को बेहद अहम एवं विश्वसनीय अंग के रूप देखा जाता है। न्यायपालिका का प्रमुख दायित्व कानून के मुताबिक न्याय व्यवस्था को हर आम और खास के लिए समान रूप प्रतिष्ठित करना है। लेकिन वर्तमान भारतीय न्यायपालिका लंबित मामलों के बोझ और मामलों की तुलना में जजों की संख्या एवं आधारभूत ढांचा नाकाफी साबित हो रहा है। न्यायपालिका पर बढ़ते बोझ और लंबित मामलों की तुलना में जजों की संख्या में भारी कमी का हवाला देते हुए माननीय सर्वोच्च न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति टीएस ठाकुर भी पिछले दिनों एक कार्यक्रम में भावुक हो गये। बड़ी बात यह थी कि उस कार्यक्रम में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी भी उपस्थित थे। आंकड़ों के मुताबिक़ निचली अदालतों में 3 करोड़ मामले लंबित हैं। मात्र बीस हजार जजों के कंधों पर दो करोड़ मामलों की सुनवाई का दबाव है। लाखों लोग इसलिए जेलों में हैं क्योंकि जज उनके मामले ही नहीं सुन पा रहे हैं, लेकिन इसके लिए जजों को दोष न दीजिये। देश के उच्च न्यायालयों में 38 लाख से ज्यादा मामले आज भी लंबित हैं। इन मामलों को निपटाने के लिए जजों की संख्या कम पड़ रही है। हाईकोर्ट में कुल 434 जजों की आवश्यकता है। आश्चर्यजनक तथ्य है कि केवल उत्तरप्रदेश के इलाहाबाद उच्च न्यायलय में ही लगभग 10 लाख के आसपास मामले लंबित हैं, जिनकी सही ढंग से समय पर सुनवाई नहीं हो पा रही है। अगर देखा जाय तो आजादी के समय न्यायालयों एवं न्यायधीशों की तुलना में मामले भी संतुलित थे। लेकिन धीरे-धीरे दोनों में असंतुलन की स्थिति पैदा होती गयी। एक आंकड़े के मुताबिक 1950 में जब सर्वोच्च न्यायलय का गठन हुआ था तब कुल आठ जज थे और 1000 मामले थे फिर 1960 में जजों की संख्या 14 हुई और मामले 2247 हुए। 1977 में जब मामले 14501 हुए तब कुल 18 जज काम कर रहे थे। जबकि 2009 में जज 31 हुए तो केस बढ़कर 77151 हो गए। 2014 में जजों की संख्या नहीं बढ़ी पर केस 81553 हो गए। उस कार्यक्रम में माननीय न्यायमूर्ति ठाकुर की बात का मजमून भी लगभग यही था कि अदालत में रखे गये मामलों की तुलना में जजों की संख्या लगातार कम होती जा रही है।

जरुरत के अनुरूप नाकाफी साबित हो रहे भारतीय न्यायिक ढाँचे की मूल वजहों को समझे बिना इस समस्या का समाधान बिलकुल नहीं किया जा सकता है। न्यापालिका से जुड़े इस समस्या के संदर्भ में अब बड़ा सवाल यह है कि आखिर भारतीय न्याय व्यवस्था में पैदा हुई इस बड़ी खामी की वजह क्या है? इस समस्या के मूल वजह पर बात की जानी इस लिहाज से जरुरी है क्योंकि अगर इस समस्या के समाधान के लिए समस्या का मूल समझना सबसे जरुरी है।

न्यायपालिका के क्षेत्र में आधारभूत संरचना से लगाये जजों की पर्याप्त संख्या एवं वर्गीकृत रूप से अदालतों का गठन नहीं होने की वजह से आज लंबित मामलों के बोझ तले हमारी न्याय प्रणाली कछुवे की रफ्तार से काम करती नजर आ रही है। आईजस्टिस के लिए काम कर रहे सुप्रीम कोर्ट के अधिवक्ता प्रशांत नारंग एवं रिसर्च टीम ने इस मामले पर व्यापक रिसर्च किया एवं एक रिपोर्ट तैयार की है। इस रिसर्च डॉक्यूमेंट में न्यायिक प्रणाली में सुधार न हो पाने की कुछ ठोस वजहों को रखा गया है, जिन पर गंभीरता से विचार किये जाने की जरूरत है। रिपोर्ट के अनुसार लगभग 18 ऐसे राज्य है जो न्यायिक सुधारों के लिए आवंटित कुल बजट का 1 फीसद भी खर्च नहीं कर पाए हैं। इन आंकड़ों का अगर राज्यवार विश्लेषण करें तो दिल्ली, हरियाणा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, कर्नाटक एवं उड़ीसा में आवंटित बजट का 1 फीसद से भी कम हिस्सा खर्च हो रहा है। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि आखिर वो कौन-सी वजहें हैं कि न्यायिक सुधारों के लिए आवंटित बजट को हमारी व्यवस्था खर्च तक नहीं कर पा रही है! इसमें कोई कोई शक नहीं कि न्यायपालिका एवं राज्य सरकारें न्यापालिका के आधारभूत संरचना को तैयार करने एवं नए कोर्ट रूम बनाने के लिए आवंटित कुल बजट का 80 फीसद खर्च करने में पूरी तरह से नाकामयाब साबित हुई है। यहां तक कि सायंकालीन अदालतों के गठन संबंधी व्यवस्था के लिए आवंटित बजट का बड़ा हिस्सा भी इस्तेमाल नहीं हो सका है। सीसीएस की रिपोर्ट के मुताबिक़ 13वें वित्त आयोग की सिफारिशों को आधार बनाकर सरकार द्वारा 5000 करोड़ की धनराशि सिर्फ कोर्ट के आधारभूत संरचना के निर्माण कार्य के लिए दिया गया था। पिछले पांच वर्षों में केन्द्रीय कानून मंत्रालय द्वारा उस बजट से मात्र 1775 करोड़ राज्यों को दिया गया लेकिन आश्चर्य की बात ये है कि इस राशि का भी पूरा इस्तेमाल राज्यों द्वारा नहीं किया जा सका है। काानून मंत्रलाय द्वारा जब इसका मूल्यांकन किया गया तो पता चला कि सरकार द्वारा जारी इस राशि से मात्र 867 करोड़ की राशि ही राज्यों द्वारा न्यायपालिका के आधारभूत संरचना के लिए खर्च की जा सकी है। विशेष सांध्य एवं प्रातःकालीन अदालतों के लिए सरकार द्वारा 2500 करोड़ रुपये आवंटित हुए जिसमें से मात्र 215 करोड़ खर्च किया जा सका है। 13वें वित्त आयोग की सिफारिशों के बाद आवंटित हुए बजट की बड़ी धनराशि खर्च नहीं हो सकी है फिर 14वें वित्त आयोग में सरकार ने सौ से ज्यादा विशेष अदालतों को बनाने का प्रस्ताव रखा है।

आंकड़ों के मुताबिक निचली अदालतों में 3 करोड़ मामले लंबित हैं। मात्र बीस हजार जजों के कंधों पर दो करोड़ मामलों की सुनवाई का दबाव है

उपरोक्त आंकड़ों को देखने के बाद यह समझना बिलकुल भी मुश्किल नहीं है कि आखिर हमारी न्यायिक व्यवस्था की कार्य-प्रणाली इतनी ढुलमुल क्यों है? यह बात समझ से परे हैं कि संबंधित अधिकृत विभाग द्वारा जरूरतों के अनुरूप आवंटित बजट तक को इस्तेमाल न कर पाने की वजह क्या है? क्या वाकई हम न्याय व्यवस्था को हाशिये का विषय मानकर बैठे हैं? और इस दिशा में सुधार के प्रति जरा भी चिंतित नहीं हैं? आंकड़े तो कम से कम इसी बात को दर्शाते हैं। अब जब न्यायमूर्ति ठाकुर द्वारा भावुक अंदाज में जजों की कमी को बताया गया तो इस सवाल पर भी बहस होनी चाहिए कि बजट आवंटन के बावजूद न्यायिक क्षेत्र में आधारभूत संरचना को तैयार करने में कहां परेशानी आ रही है। जजों के रिक्त पदों को भरना तो नितांत आवश्यक है ही साथ में अदालतों की संख्या और उनके काम करने के समय-सारणी को भी और दुरुस्त करने की जरुरत है। तय बजट का सही उपयोग अगर किया जाय तो सायंकालीन अदालतों, प्रातः कालीन सुनवाई आदि की व्यवस्था विशेष अदालतों के तहत की जा सकती है। साथ ही मामलों को फिल्टर करने के उपायों पर भी और विचार करने की जरुरत है। वादी और प्रतिवादी के बीच अगर बिना अदालत गये समझौते के विकल्पों पर सोचा जाय तो काफी हद तक न्यायपालिका से बोझ हल्का हो सकता है। आदालती कार्यों के अलावा प्रक्रिया में बहुत सारे ऐसे तकनीकी कार्य आते हैं जिनका अदालती प्रक्रिया से लेना-देना ज्यादा नहीं होता। मसलन, रजिस्ट्री इत्यादि। इन कार्यों का बोझ अदालतों पर सीधे डालने की बजाय आउटसोर्स की प्रणाली विकसित करने की दिशा में काम करने की जरूरत है। इससे अदालतों पर बोझ कम होगा और कार्य की प्रगति तेज होगी। बैंकिंग क्षेत्रों में भी चेक बाउंस जैसे मामलों के लिए प्रथम दृष्टया बैंकों को यह अधिकार दिए जाने की जरूरत है कि वे खुद इस किस्म के अपराध में कठोर आर्थिक दंड का प्रावधान तय कर सकें। अगर बैंकों के पास यह अधिकार होगा तो मामलों में न सिर्फ कमी आएगी बल्कि अदालतों में जाने वाले मामलों में भी कमी आएगी।

कुल मिलाकर अगर देखा जाय तो अदालतों के ऊपर बढ़े बोझ की दो वजहें सामने आती हैं। पहली वजह यह कि अदालतों के आधारभूत संरचना के विकास में हमारा प्रशासन सुस्ती बरत रहा है और दूसरी वजह यह है कि हर मामले (जिनको अलग स्तरों पर सुलझाया जा सकता है) के लिए हम अदालतों का रुख कर रहे हैं। इन दोनों बिंदुओं पर विचार करते हुए ही उस समस्या का हल निकल सकता है जो माननीय मुख्य न्यायाधीश की चिंता है।

(लेखक डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन में रिसर्च फेलो हैं)

जनहित मामलों का प्रभाव

■ अमित त्यागी

न्यायिक सक्रियता के विषय पर पिछले कुछ समय से न्यायपालिका और विधायिका के बीच एक जुबानी टकराव की स्थिति बनी है। सबसे पहले अरुण जेटली ने 'एक लक्ष्मण रेखा' की बात कही। इसके उत्तर में मुख्य न्यायाधीश ने कहा कि 'जब कार्यपालिका से लोग असंतुष्ट होते हैं तब ही न्यायपलिका को दखल देना होता है'। इसके प्रति-उत्तर में नितिन गडकरी ने कहा कि 'जनता नाराज हो तो उसे सरकार बदलने का हक है लेकिन संविधान के तहत सबका दायरा बंटा है। अब न्यायिक अतिवाद को देखने के दो नजरिये हैं। पहला, काम के बोझ से दबी न्यायपालिका पर समय का अभाव है ऐसे में न्यायिक सक्रियता के माध्यम से न्यायालय का कीमती समय क्यों व्यर्थ बर्बाद हो? दूसरा, चूंकि न्यायिक सक्रियता पूर्णतः संवैधानिक है एवं इसके द्वारा पूर्व में उल्लेखनीय कार्य भी हुये हैं, इसलिये यह जनहित में है। इन सबके बीच एक दृष्टिकोण यह भी है कि न्यायिक व्यवस्था, विधायिका का विकल्प नहीं हो सकती है।

भारत की संवैधानिक व्यवस्था मे तीन स्वतंत्र अभिकरण विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका तीनों के कार्यक्षेत्र निश्चित हैं। विधायिका का काम कानून बनाना, कार्यपालिका का कार्य कानून का अनुपालन करवाना एवं न्यायपालिका का कार्य कानून एवं संविधान की व्याख्या करना है। न्यायपालिका को विधायिका के द्वारा बनाये कानूनों का पुनर्विलोकन का विशेषाधिकार भी प्राप्त है। संविधान तीनों से ऊपर है एवं जनता संविधान से भी ऊपर सर्वोच्च है। ऐसे में जनहित से जुड़े किसी भी विषय पर मिलने वाला उपचार चाहे विधायिका के माध्यम से हो या न्यायपालिका के माध्यम से, जनप्रिय बन जाता है। वर्तमान में समकालीन भारतीय विधि व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन चुकी जनहित याचिका राजनैतिक और न्यायिक कारणों के क्रमिक विकास से उत्पन्न हुयी प्रक्रिया का प्रारूप है। इसके पूर्व में संविधान निर्माण के वर्ष 1950 में एके गोपालन बनाम मद्रास राज्य वाद में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनु.21 की व्याख्या करते हुए फैसला दिया था कि अगर भारतीय संसद ऐसा कानून बनाती है जो किसी व्यक्ति को उसके जीने के अधिकार से तर्क संगत तरीके से वंचित करता हो, तो वह मान्य होगा। भारतीय संविधान में न्यायालय, विधायिका से हर दृष्टिकोण में सर्वोच्च नहीं है एवं अपने क्षेत्र में विधायिका ही सर्वोच्च है। दो दशक बाद गोलकनाथ और पंजाब राज्य(1967) केस में खंडपीठ ने माना कि 'संसद ऐसा संविधान संशोधन पारित नहीं कर सकता जो मौलिक अधिकारों का हनन करता हो'। इसके बाद केशवानंद भारती (1973) वाद में उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ निर्णय को रद्द करते हुए दूरगामी सिद्धांत दिया कि संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान की मौलिक संरचना को बदलने वाला संशोधन करे और यह भी माना कि न्यायिक समीक्षा मौलिक संरचना का ही एक भाग है। इसके बाद आपातकाल के दौरान एडीएम जबलपुर वाद (1976) में न्यायालय ने कार्यपालिका को नागरिक स्वतंत्रता और जीने के अधिकार को प्रभावित करने की स्वछंदता दी। आपातकाल के पश्चात् न्यायालय के रुख में गुणात्मक बदलाव आया और मेनका गांधी (1978) के वाद में न्यायालय ने एके गोपालन केस के निर्णय को पलटकर जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकारों को विस्तारित किया। इस तरह कई निर्णयों के दौर से गुजरता हुआ न्यायिक सक्रियता, जनहित याचिका के वर्तमान स्वरूप में सामने आया जिसके द्वारा जनहित के कई कार्य हुये। 1979 में हुसैनआरा खातून केस में सिर्फ एक अंग्रेजी अखबार में कैदियों की अमानवीय स्थिति एवं न्याय की देरी पर प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर दायर वाद पर न्यायालय ने त्वरित न्याय को एक मौलिक अधिकार माना। एमसी मेहता(1985-2001) के वाद के द्वारा दिल्ली में प्रदूषण कम करने के लिये औद्योगिक इकाईयों को बाहर स्थानांतरित किया गया। इन सबके बीच में एक सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि न्यायिक सक्रियता के द्वारा सरकार को निर्देशित करके काम करवाना विधायिका के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण तो है ही। तो फिर टकराव कैसे टलेगा? एक तरीका है। संवैधानिक संस्थाओं का ध्यान अधिकारों से ज्यादा कर्तव्यों पर केंद्रित हो। एक राष्ट्र निर्माण के लिये इससे बेहतर विकल्प कुछ और नहीं हो सकता है।

(लेखक विधिक मामलों के जानकार हैं)